वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ५, शुक्रवार
दि. ११-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-५,६,७. प्रवचन नं. ४८

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। छठवीं ढाल का ५वां श्लोक है, चार श्लोक हुए। मुनियों की व्याख्या है। मुनिपना (कहते हैं)। अन्तिम गाथा-अन्तिम ढाल है न ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान, श्रावक के देशव्रत की व्याख्या आ गयी है। अब, सकलव्रत की व्याख्या (कहते हैं)। और फिर स्वरूपाचरणचारित्र की व्याख्या कहेंगे।

मुनियों के छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण

समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमांहि पिछली रयनिमें कछु शयन एकासन करन ।।५।।

ओ..हो..हो...! **अन्वयार्थ :- 'वीतरागी मुनि...'** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सकलचारित्र से सहित हैं। उन्हें **'(हमेशा) सामायिक सम्हालकर करते हैं...'** समता का प्रयोग करते हैं। अन्तर वीतरागपने में कितने काल रह सकता हूँ-ऐसा सामायिक का प्रयोग करते हैं। समताभाव... यों तो मुनि को तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव है। सकलचारित्र आदि, पाँच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प होते हैं, उसमें एक सामायिक (का) प्रयोग करते हैं। शुद्ध चैतन्यमूर्ति अन्तर वीतरागपने के स्वभाव के निर्विकल्प ध्यान का प्रयोग करे। पहले सामायिक का विकल्प है। समझ में आया ? यहाँ मानो केवलज्ञान पाने की योग्यात हो गयी हो-ऐसी सामायिक। समता हमेशा प्रगट करते हैं।

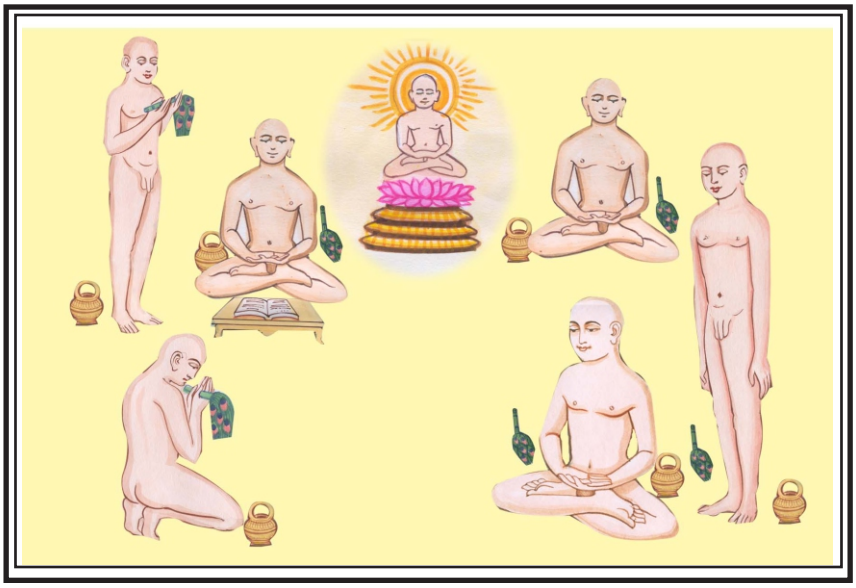

'**थुति उचारैं...**' जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हैं, वन्दन (करते हैं)। समझ में आया ? चौबीस तीर्थंकर आदि का स्तवन करते हैं, वन्दन करते हैं, गुरु को वन्दन करते हैं अथवा एकाध तीर्थंकर अलग पाड़कर वन्दन करे, उसे वन्दन कहते हैं। '**स्वाध्याय में प्रेम करते हैं...**' शास्त्र की स्वाध्याय करते हैं। दूसरी कोई विकथा, निन्दा नहीं होती। ध्यान और स्वाध्याय, ध्यान और स्वाध्याय। मुनि या तो अन्तर ध्यान में-आनन्द में लीन होते हैं, बाहर में आवे तो शास्त्र की स्वाध्याय (करते हैं)। चार अनुयोगोंमें से जो उन्हें योग्य लगे, उस प्रकार (करते हैं)। '**प्रेम करते हैं; प्रतिक्रमण करते हैं...**' अशुभादि भाव हुए हो, तो वपास हटने का प्रतिक्रमण करते हैं।

'**शरीर की ममता को छोड़ते हैं...**' काया। विसर्ग, विसर्ग, विसर्ग है। शरीर की ममता को.. विसर्ग आता है न ? सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान.. '**जिनमुनियों को...**' और जिन मुनियों को.. वे दिगम्बर सन्त ही होते हैं। अन्तर में तीन कषाय का नाश होता है, बाहर में नग्नदशा होती है। '**जिन्हें स्नान...**' नहीं होता, स्नान। नहाने का नहीं होता। ब्रह्मचारी है उसमें भी चारित्रवन्त हैं, सकलचारित्रव्रत हैं, उन्हें स्नान नहीं होता।

'**दांत साफ करने का नहीं होता...**' दाँत साफ नहीं करते। फिर भी ये 'बनारसीदासजी' तो उसमें कहते हैं, भाई कहा था न ? सुगन्ध। अदन्तधोवन की व्याख्या करते हैं। पृष्ठ-३०४ पर

है, साधु के अट्ठाईस मूलगुणों का नाम लिया है न उसमें ? ('समयसार नाटक' चतुर्दश गुणस्थान अधिकार, छन्द-८०)

पंच महाव्रत पालै पंच समिति सँभाले;
पंच इन्द्रि जीति भयौ भोगी चित्त चैन कौ।
षट् आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै,
प्रासुक धर मैं एक आसन है सैनकौ।
मंजन न करै केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै,
त्यागै दंतवन पै सुगंध स्वाद बैनकौ।

देखो ! ऐसी दशा प्रगटती है। कोई प्रश्न करता था न ? देखो ! यहाँ (कहते हैं) '**दन्त धोवन...**' नहीं करते। मुनि, दन्त धोवन नहीं करते तो भी वचन और श्वास में सुगन्ध निकले, इतनी पवित्रता बढ़ गयी है और पुण्य भी इतना बढ़ गया है। देखो ! स्नान करे नहीं, दाँत धोवे नहीं, फिर भी जिनके वचन और श्वास में सुगन्ध (होती है)। आवाज निकले तो सुगन्धवाली और श्वास भी निकले तो सुगन्ध्वाली-ऐसी मुनि की दशा (होती है)। भावलिंगी छठवें-सातवें गुणस्थान में बिराजमान हैं, उनकी ऐसी दशा हो जाती है, तब उन्हें भावलिंगी सन्त-मुनि कहा जाता है। समझ में आया ?

'**न दन्त धोवन, लेश अम्बर-आवरण...**' जिन्हें एक वस्त्र का टूकड़ा भी आवरण नहीं होता। वस्त्र ग्रहण का भाव हो, वहाँ मुनिपना नहीं हो सकता। भाई !

प्रश्न :- मूर्च्छारहितपने लेवे तो क्या बाधा है ?

उत्तर :- मूर्च्छारहित ले ही नहीं सकता। वस्त्र ग्रहण का भाव है, वह मूर्च्छा है, वह परिग्रह है। (कोई) कहता था न ? वस्त्र-ग्रहण का भाव ही ममता है। यह ममता हो, तब तक मुनिपना नहीं हो सकता है। मुनि की दशा, वही प्राकृतिक स्थिति है। वस्त्र रोकता नहीं, वस्त्र के प्रति का राग, वह राग है, तब तक उसे मुनिपने की दशा नहीं हो सकती-ऐसा कहते हैं।

एक व्यक्ति कहता था-ये बात ऐसीकरते हैं और फिर वापस कहते हैं-वस्त्र रोकता है।

एक व्यक्ति कहता था। (संवत) २००४ के साल में, ब्राह्मण। बात बहुत सूक्ष्म अच्छी करे, फिर कहते हैं (कि) वस्त्र होवे तो मुनिपना नहीं। तो क्या वस्त्र रोकता है कहीं ? श्वेताम्बर साधु था। यहाँ चातुर्मास में रहा था, विद्वान व्यक्ति। अन्दर कहे कि सौ की सौ प्रतिशत तुम्हारी बात सत्य है, एकदम, परन्तु अमल में कैसे लाना ? अर्थात् कि तुम कहते हो कि यहाँ छोड़कर रहो। यहाँ किसी का कुछ है नहीं। यहाँ तो मार्ग कहते हैं, कैसे तुम्हें करना, कैसे नहीं-हमारा किसी को कुछ कहने का अधिकार नहीं। वे बाहर ऐसा बोले-भाई ! ये कहते हैं कि एक विकल्प जरा-सा राग का इतना होवे तो पाप है अथवा बन्ध का कारण है; फिर कहते हैं कि वस्त्र रखे तो मुनिपना नहीं। जड़ वस्त्र रोकता है ? जड़ नहीं रोकता, परन्तु आत्मा में आनन्दभाव, तीन कषाय का जिसे नाश, अन्दर में प्रगट है-ऐसी दशा में इतनी समता और वीतरागता का आनन्द है कि उसे वस्त्र-ग्रहण की वृत्ति का विकल्प नहीं हो सकता। ऐसी ही उस भूमिका की दशा है। समझ में आया ?

'**लेश अम्बर-आवरन...**' नहीं होता। एक थोड़ा-सा टुकड़ा, लंगोटी जितना भी टूकड़ा (नहीं होता)। यह अकेले की बात नहीं है, अन्दर तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। समता, वीतरागता में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द में रमते हैं। दन्त धोवन नहीं करते फिर भी वाणी और श्वास में सुगन्ध निकलती है, सुगन्ध निकले-ऐसी जिनकी अन्तर दशा-मुनि की भावलिंगी की दशा हो गयी है उन्हें जैनशासन में मुनि और साधु कहा गया है, भाई !

मुमुक्षु :- वस्त्र आ पड़े तो क्या करना ?

उत्तर :- आ कहाँ से पड़े ? ऊपर से अपने आप आया होगा ? स्वयं ध्यान में हो और कोई ऊपर डाल दे तो वह अलग बात है।

मुमुक्षु :- श्रावक देते हैं।

उत्तर :- क्या देते हैं श्रावक ? मुफ्त में देते है वहाँ श्रावक ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- दे वे तो है ही कहाँ ? वह तो वस्तु ही कहाँ है ? मुनि को वस्त्र के उपकरण चलते हैं और उन्हें मुनि मानना, इसकी बात तो गृहीतमिथ्यात्व में जाती है, भाई ! अभी तक सब ऐसा

ही किया है। कहो, समझ में आया ? यह तो वीतराग का मार्ग है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने मुनिपने की छठवें गुणस्थान की दशा सकलचारित्रवन्त की ऐसी वर्णन की है और दस प्रकार है। कोई दूसरी उल्टी-सीधी आगे-पीछे कहे तो वह वस्तु को नहीं समझता है।

कहते हैं, '**लेश अंबर आवरण**' नहीं होता। '**शरीर को ढकने के लिए उनको जरा भी कपड़ा नहीं होता और (पिछली रयनि में) रात्रि में...**' देखो ! '**भूमाहिं पिछली रयनि में...**' भूमि में, पिछली रात्रि में कुछ-थोड़े समय '**(एकासन) एक करवट...**' थोड़ी निद्रा लेते हैं। देखो ! दशा, मुनिदशा अर्थात् क्या ? ओ..हो..हो... ! जिन्हें अन्दर में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आनन्द में प्रगट हुआ है, उन्हें एक रात्रि कि पिछले भाग में थोड़ी देर तक एक करवट अर्थात् एक ही आसन से जरा-सी थोड़ी निद्रा, एक थोड़ी सहज निद्रा आ जाती है। घड़ी, दो घड़ी की निद्रा नहीं; एक घड़ी निद्रा आवे तो मुनिपना रहता ही नहीं। समझ में आया ?

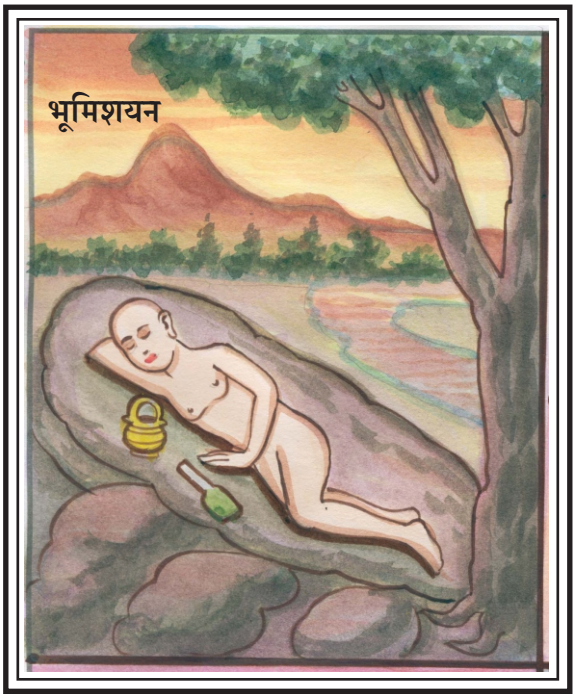

यहाँ तो अन्तिमदशा-अन्तिम कड़ी वर्णन की है न ? अन्तिम चारित्र का अधिकार है। (रात्रि के) पिछले भाग में '**एक करवट कुछ समय तक शयन करते हैं।**' ऐसी मुनि की भावलिंगी अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवसहित वीतरागदशा प्रगट हुई है। ऐसे सकलचारित्रवन्त को ऐसी स्थिति-दशा होती है। समझ में आया ? अन्दर लिखा है, वह आ गया है।

मुनियों के शेष गुण तथा राग-द्वेष का अभाव

इक बार दिनमें लें आहार, खड़े अलप निज-पानमें'
कचलौंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन;
अर्धावतारन असि-प्रहारनमें सदा समता धरन ॥६॥

अन्वयार्थ :- (वे वीतराग मुनि) (दिन में) (इकबार) एकबार (खड़े) खड़े रहकर और (निज-पानमें) अपने हाथमें रखकर (अल्प) थोड़ा-सा (अहार) आहार (लें) लेते हैं; (कचलौंच) केशलोंच (करत) करते हैं, निज ध्यान में अपने आत्मा के ध्यान में (लगे) तत्पर होकर (परिषह सौं) बाईस प्रकार के परिषहों से (न डरत) नहीं डरते; और (अरि मित्र) शत्रु या मित्र, (महल मसान) महल या स्मशान (कञ्चन काँच) सोना या काँच (निन्दन थुति करन) निन्दा या स्तुति करनेवाले, (अर्धावतारन) पूजा करनेवाले और (असि-प्रहारन) तलवार से प्रहार करनेवाले उन सब में (सदा) सदा (समता) समताभाव (धरन) धारण करते हैं।

भावार्थ :- (वे वीतरागी मुनि) (५) दिनमें एकबार (६) खड़े-खड़े अपने हाथमें रखकर थोड़ा आहार लेते हैं; (७) केश का लोंच करते हैं; आत्मध्यान में मग्न रहकर परिषहों से नहीं डरते अर्थात् बाईस प्रकार के परिषहों पर विजय प्राप्त करते हैं, शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, सुवर्ण-काँच, निन्दक और स्तुति करनेवाले, पूजा-भक्ति करनेवाले या तलवार आदि से प्रहार करनेवाले इन सब में समभाव (राग-द्वेष का अभाव) रखते हैं अर्थात् किसी पर राग-द्वेष नहीं करते।

प्रश्न :- सच्चा परिषह-जय किसे कहते हैं ?

उत्तर :- क्षुधा, तृषा, उष्ण, डाँस-मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन, प्रज्ञा और अज्ञान-यह बाईस प्रकार के परिषह हैं। भावलिंगी मुनि को प्रतिसमय तीन कषाय का

(अनन्तानुबन्धी आदि का) अभाव होने से स्वरूप में सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, उतने अंश में उनका निरन्तर परिषह-जय होता है। क्षुधादिक लगने पर उसने नाश का उपाय न करना उसे (अज्ञानी जीव) परिषह-सहन करते हैं। वहाँ उपाय तो नहीं किया, किन्तु अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दु:खी हुआ तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ-किन्तु वह तो दु:ख-सुखरूप परिणाम हैं और वही आर्त-रौद्रध्यान है; ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो सकता है ?

प्रश्न :- तो फिर परिषह-जय किस प्रकार होता है ?

उत्तर :- तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो; दु:ख के कारण मिलने से दु:खी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उसका ज्ञाता ही रहे-वही सच्चा परिषहजय है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३३६) ॥६॥

अब छठवां श्लोक। '**मुनियोंके शेष गुण तथा राग-द्वेष का अभाव।**'

इक बार दिनमें लें अहार, खड़े अलप निज-पानमैं;
कचलोंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन;
अर्धावरतारन असि-प्रहारमें सदा समता धरन।।६।।

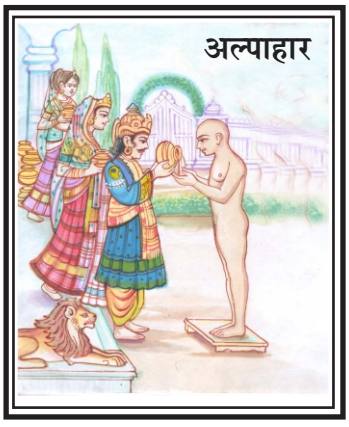

समझ में आया ? देखो ! यह मुनिपने की दशा। अन्वयार्थ :- '**(वे वीतरागी मुनि) दिन में एक बार खड़े रहकर...**' दिन में एकबार खड़े (रहकर)... आहा..हा...! एक ही बार आहार। '**निज-पान में..**' अर्थात् अपने हाथ; पान अर्थात् हाथ। '**अपने हाथ में रखकर (अल्प) थोड़ा आहार लेते हैं...**' एक थोड़ा। मात्र शरीर के निर्वाह जितना, विकल्प आया इसलिए लेते हैं।

'**केशलोंच करते हैं। (निज ध्यान में) अपने आत्मा के**

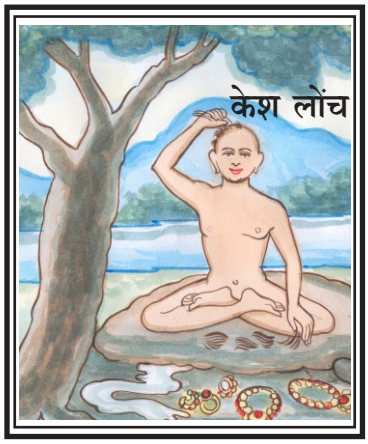

ध्यान में तत्पर होकर...' देखो ! भगवान आत्मा ! मुनियों को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद बहुत आया होता है। सम्यग्दृष्टि जीव को भी.. परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हों, उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया होता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। श्रावक होवे उसे तो अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद है। आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द उसका आस्वाद; मुनि को तो अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वाद प्रचुर स्वसंवेदन है।

इस कारण कहते हैं - '**अपने आत्मा के ध्यान में तत्पर...**' होते हैं। यहाँ क्या कहते हैं ? सकल-चारित्र की व्याख्या है न ? विकल्प है, तब महाव्रत आदि के परिणाम होते हैं। वापिस अत्यन्त छूटकर आत्म के ध्यान में आ जाते हैं। मुनि छठवे-सातवें गुणस्थान मे झूलते हैं। एक दिन में हजारों बार आनन्द में (आते हैं)। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। क्षण में आहार लेने का या बोलने का या सुनने का या पढ़ने का विकल्प उठता है, क्षण में अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का अमृत-सिद्ध समान आनन्द का अनुभव लें-ऐसी दशा को वीतराग शासन में मुनिपना कहा जाता है। ऐसी मुनिदशा की श्रद्धा न होवे और दूसरे प्रकार से माने तो उसकी श्रद्धा मिथ्या है।

इसलिए यहाँ वर्णन करते हैं - '**अपने आत्मा के ध्यान में तत्पर होकर बाईस प्रकार के परीषहों से नहीं डरते हैं...**' डरे क्या ? जहाँ आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा के आनन्द की लहर पड़ती है; आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा के उत्कृष्ट आनन्द में तृप्त.. तृप्त (हैं)। आत्मा की शान्ति में तृप्त हैं। मुनि आत्मा की शान्ति में तृप्त हैं। उन्हें परिषह से डर नहीं होता; ज्ञाता-दृष्टारूप से जाने। इतना आनन्द अन्दर में (बढ़ गया है)। जिन्हें गणधर नमस्कार करें... मुनि अर्थात् जिन्हें गणधर नमस्कार करें। (वे) चौदहपूर्व-द्वादशांग की रचना अन्तमुहूर्त में करें, (तब उच्चारण करते हैं)-णमो लोए सव्व साहूणं। हे सन्त ! ऐसी जिसे अन्तर दशा हो-ऐसे भावलिंगी को गणधर भी पंच नमस्कार में स्मरण करके नमस्कार करते हैं। - ऐसी दशा मुनि की, वह तो परमेश्वर पद ! आहा..हा...! '**बाईस प्रकार के परिग्रह से नहीं डरते हैं...**' अब दो-दो बोल लेते हैं।

'**शत्रु या मित्र...**' दोनों में समता है। यह मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है-ऐसा उन्हें नहीं

होता। अनुकूल-उनकी सेवा करनेवाले मित्र के प्रति जिन्हें प्रेम नहीं और विरोध, निन्दा करनेवाले, मारनेवाले, प्रहार करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं-ऐसी वीतरागता अन्तर में प्रगट हुई होती है। '**महल या स्मशान...**' अब दो-दो बोल हैं, हाँ ! महल और स्मशान। वह कोई ऊँचा महल हो या स्मशान हो, दोनों समभाव है; दोनों में ज्ञाता-दृष्टारूप से मुनि को वीतरागभाव वर्तता है। स्मशान में ठीक नहीं, महल में ठीक है-ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता है। आहा..हा... !

'**सोना या काँच (कंचन-काँच)...**' सोना या काँच का टूकड़ा, दोनों समान हैं और कहीं हीरा की खान देखे तो मन में ऐसा नहीं होता कि लावो, कुछ श्रावक को बतला दूँ। समझ में आया ? आहा..हा... ! जिसे सब धूल समान है। हीरा की खान दिखे या काँच का टूकड़ा दिखे.. जहाँ समता-आत्मा का आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द के लहर में पड़े हैं, उस अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते हैं। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

कितना होगा आनन्द ? यह सब तुम्हारे.. देखो ! उसमें... मैंने कहा, देखो !कैसा मजा करते हैं वे पैसेवाले हैं इसलिए न ? मैंने एक व्यक्ति से कहा-भक्ति में कहते थे न ? कहाँ गया ? वह लड़का था न ? देखो ! देखो ! यह सेठ, देखो ! यह कैसा मजा करता है। पैसे के कारण मजा करता होगा न ? देखो ! आवाज निकालता है। (तो उसने कहै)-नहीं, नहीं, पैसे के कारण नहीं, पैसे के कारण सुख नहीं-ऐसा कहता था। (अपने मुमुक्षु का) लड़का है न ? यहाँ बैठा था। मैंने कहा-यह देखो ! यह सेठ है, वहाँ से यहाँ बड़े-बड़े से आवाज आती है। यह पैसा लड़कों का है और उसके लिए यह सब होता होगा या नहीं ? मजा मानता होगा या नहीं ? उसने कहा-नहीं, नहीं, ऐसा नहीं।

सोना और कंचन दोनों में (समभाव है)। आत्मा की शान्ति जिन्हें-मुनि को अन्तर में वीतरागी दशा प्रगट हुई है। सम्यग्दृष्टि को वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है; श्रावक को वीतरागात की उग्रता थोड़ी बढ़ी है; मुनि को तो वीतरागता बहुत बढ़ गयी है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व टलकर अनन्तानुबन्धी टली, इसलिए वीतरागता का अंश सदा ही वर्तता है। आहा..हा... ! श्रावक भी सच्चा श्रावक, हाँ ! वाड़ा की बात नहीं है। सच्चे श्रावक को भी सन्यग्दर्शनसहित दो कषाय का अभाव (हुआ है); उसे वीतरागता के अंश की वृद्धि (हुई है)। चौथे गुणस्थानवाले सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा भी वीतरागता का अंश

श्रावक को बढ़ गया होता है, उसे श्रावक कहा जाता है, और मुनि को तो वीतरागता का अंश इतना बढ़ा है, तीन कषाय का अभाव (हुआ है)। एक संज्वलन की कषाय थोड़ा विकल्प रहा है।

(यहाँ) कहते हैं, इस काँच और सोना (दोनों मे) समता है। **'निन्दा करनेवाले या स्तुति करनेवाले...'** के प्रति समभाव है। मेरी निन्दा-स्तुति कौन करे ?- ऐसा मानते हैं। समझ में आया ? निन्दा और स्तुति करनेवाले के प्रति समभाव.. समभाव.. वीतरागता वर्तती है। **'(अर्धावतारन) पूजा करनेवाले या तलवार से प्रहार करनेवाले-इस सर्व में हमेशा समताभाव धारण करते हैं।'** आहा..हा...! शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. कुछ खलबलाहट नहीं होती, सारा कोलाहल मिट गया है। मनि को वीतरागता प्रगटी है न ? तीन कषाय का नाश हुआ है। शान्त.. शान्त.. शान्त.. अन्दर स्थिर पिण्ड जैसे हो गये हैं-ऐसा चारित्र प्रगट हुआ है। कहते हैं... वे **'हमेशा समताभाव धारण करते हैं।'** लो ! यह स्पष्टीकरण आ गया। (भावार्थ में) जरा स्पष्टीकरण करते हैं। प्रश्न है न ?

'प्रश्न :- सच्चा परिषहजय किसे कहते हैं ?'

पहले भावार्थ तो आ गया। सच्चा परीषहजय। परीषह कहते हैं न ? परीषह, वीतरागमार्ग में परीषहजय किसे कहा जाता है ? - 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में यह स्पष्टीकरण किया है। परीषह (अर्थात्) बाहर से ऐसा सहन करे, वह नहीं।

'उत्तर :- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तुणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन,

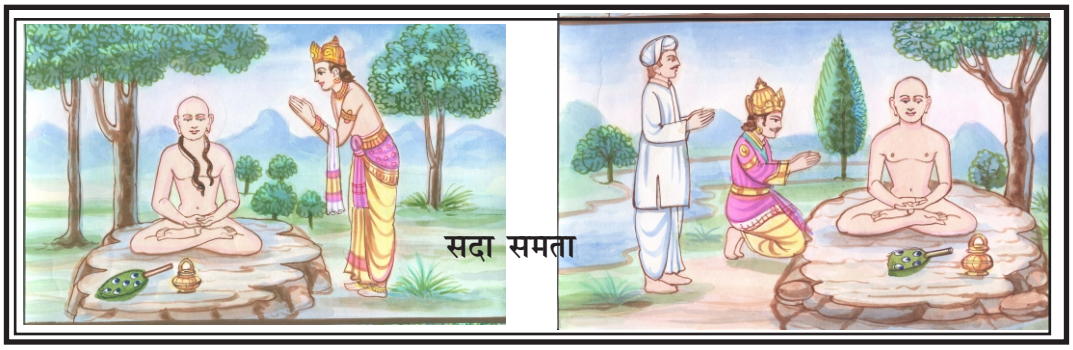

प्रज्ञा और अज्ञान-ये बाईस प्रकार के परीषह है। भावलिंगी मुनि को प्रत्येक समय तीन कषाय का (अनन्तानुबन्धी आदि का) अभाव होने से स्वरूप में सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती...' समझ में आया ? जहाँ प्रत्येक समय में तीन कषाय का अभाव है, वीतरागता की अन्तर दशा तो प्रगटी है। **'उतने अंश में उन्हें निरन्तर परीषहजय होता है।'** देखो ! जितने अंश में तीन कषाय का नाश होकर वीतरागता हुई उतना तो सदा परीषहजय होता है।

'तथा क्षुधादिक लगने पर उनके नाश का उपाय नहीं करना, उसे वह (अज्ञानी जीव) परीषह-सहन कहते हैं। अब उपाय तो नहीं किया...' यह 'टोडरमलजी' की बात है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' (में) कहते हैं। **'और अन्तरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दु:खी हुआ...'** क्षुधा लगी, उसमें अनिष्ट, अनिष्ट लगा, वह तो द्वेष हुआ **'तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ...'** आहार मिलने से अन्दर रति हुई, **'परन्तु वे तो दु:ख-सुखरूप परिणाम हैं...'** वह कोई परीषहजय नहीं। दु:खरूप परिणाम **'और वही आर्त-रौद्रध्यान है...'** उसे आर्तध्यान और रौद्रध्यान कहते हैं। **'ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो सकता है ?'** उस भाव से कोई संवर नहीं होता। क्षुधा अनिष्ट लगे और पेट में आहार पड़े ऐसे ऐसे हा..श.. (होता है)। एक व्यक्ति कहता था, आहार जब होता है न ? आहार के समय सातवां गुणस्थान आ जाता है... आहा..हा..! (-ऐसा कहता था)।

मुमुक्षु :- पेट में आ जाता है न, इसलिए शान्ति लगती है।

उत्तर :- परन्तु शान्ति किसकी ? वह तो रति है। आहार पड़ा, क्षुधा लगी थी तब अनिष्ट लगा था, वह कहीं परीषहजय नहीं और वह कोई शान्ति नहीं और आहार (पेट में) पड़ने से हा..श.. (हुई), प्यास बहुत लगी थी और मोसम्बी का पानी पड़े, वह तो रति हुई, वह परिषहजय नहीं है। समझ में आया ? ऐसा भाव...

प्रश्न :- **'तो फिर परीषहजय किस प्रकार होता है ?'**

'टोडरमलजी' कहते हैं कि,

'उत्तर :- तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो..' देखो ! इष्ट-

अनिष्ट। यह क्षुधा है, वह अनिष्ट है और आहार मिला, वह इष्ट है–दोनों मान्यतायें मिथ्यात्व है। प्रतिकूल पदार्थ अनिष्ट और अनुकूल पदार्थ इष्ट–यह मान्यता ही भ्रम, अज्ञान है। कहो, समझ में आया ? कोई पदार्थ प्रतिकूल–अनुकूल है नहीं। अनुकूल में प्रीति और प्रतिकूल में द्वेष–यह तो आर्तध्यान, रौद्रध्यान हुआ; इसमें परीषहजय नहीं है। यहाँ धर्म नहीं आया, उसमें धर्मध्यान नहीं आया। धर्मध्यान किस प्रकार ?

'**तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो...**' मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, ये पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। ज्ञेय हैं–जानने योग्य हैं, इष्ट–अनिष्ट नहीं है। भाई ! इष्ट–अनिष्ट होंगे या नहीं ? यह विच्छु अनिष्ट नहीं ? बिच्छु, ऐसा बड़ा जहरीला बिच्छु काटा हो.. ये सब पदार्थ जाननेयोग्य हैं; आत्मा जाननेवाला–ज्ञान है–इन दो के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध है, इससे अतिरेक सम्बन्ध करके, विशेष सम्बन्ध करके ऐसा माने कि यह मुझे ठीक नहीं है–वह मिथ्याभ्रान्ति में उत्पन्न किया हुआ भाव है। समझ में आया ? आहा..हा... !

'**तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, दुःख के कारण मिलने पर दुःखी न हो...**' यह अनिष्ट सामग्री लाख–करोड़ होवे तो दुःख न हो–ऐसे समतापरिणाम हो, उसे परीषहजय कहते हैं। '**तथा सुख के कारण मिलने पर सुखी न हो...**' आहार–पानी अनुकूल मिले, ठण्डी हवा मिले, अच्छा गाँव और अच्छा रहने का स्थान, ठण्डी हवा और ऐसी प्यास लगीहो व पानी (मिले)–ऐसे कारण मिलने पर सुखी न हो। सुखी होवे तो राग हुआ वह तो। '**परन्तु ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, वही सच्चा परीषहजय है।**' परीषहजय की यह व्याख्या है। समझ में आया ?' (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ–२३२)'

मुनियों के तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र

तप तपै द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा;
मुनि साथमें वा एक विचरैं चहैं नहिं भवसुख कदा।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब;
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब ।।७।।

अन्वयार्थ :- (वे वीतरागी मुनि सदा) (द्वादश) बारह प्रकार के (तप तपै) तप करते हैं, (दश) दस प्रकार के (वृष) धर्म को (धरैं) धारण करते हैं और (रतनत्रय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का (सदा) सदा (सेवे) सेवन करते हैं। (मुनि साथ में) मुनियों के संघ में (वा) अथवा (एक) अकेले (विचरैं) विचरते हैं और (कदा) किसी भी समय (भवसुख) सांसारिक सुखों को (नहिं चहैं) इच्छा नहीं करते। (यों) इसप्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र (है) है; अब (स्वरूपाचरण) स्वरूपाचरण चारित्र सुनो। (जिस) जो स्वरूपाचरण चारित्र चारित्र (स्वरूप में रमणतारूप चारित्र) (होत) प्रगट होने से (आपनी) अपने आत्मा की (निधि) ज्ञानादिक सम्पत्ति (प्रगटै) प्रगट होती है, तथा (परकी) परवस्तुओं की ओर की (सब) सब प्रकार की (प्रवृत्ति) प्रवृत्ति (मिटैं) मिट जाती है।

भावार्थ :- (१) भावलिंगी मुनिका शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना सो तप है। तथा हठरहित बारह प्रकार के तप के शुभविकल्प होते हैं, वह व्यवहार तप है। वीतरागभावरूप उत्तमक्षमादि परिणाम सो धर्म है। भावलिंगी मुनि को उपरोक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है; वे मुनियों के संघमें अथवा अकेले विहार करते हैं; किसी भी समय सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करते। - इसप्रकार सकलचारित्र का स्वरूप कहा।

(२) अज्ञानी जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं; किन्तु मात्र बाह्य तप करने से निर्जरा होती नहीं है। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है, इसलिये उपचारसे तप को भी निर्जरा का कारण कहा है। यदि बाह्य दु:ख सहन करना ही निर्जरा का कारण हो, तब तो पशु आदि भी क्षुधा-तृषा सहन करते हैं।

प्रश्न :- वे तो पराधनतापूर्वक सहन करते हैं। जो स्वाधीनरूप से धर्मबुद्धिपूर्वक उपवाासादि तप करे उसे तो निर्जरा होती है ना ?

उत्तर :- धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे तो वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ या शुद्धरूप-जिसप्रकार जीव परिणमे-परिणमित होगा; उपवास के प्रमाण में यदि निर्जरा हो तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि सिद्ध हो, किन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादि करने से भी, निर्जार कैसे सम्भव हो सकती है ? यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि-जैसे अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो, तद्नुसार बन्ध निर्जरा है, तो उपवासादि

तप निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ?-वहाँ अशुभ और शुभपरिणाम तो बन्ध के कारण सिद्ध हुए तथा शुद्धपरिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो, अनशनादि को तपकी संज्ञा किस प्रकार कही गई ?

उत्तर :- उन्हें बाह्य-तप कहा है; बाह्य का अर्थ यह है कि-बाह्य में दूसरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है, किन्तु स्वयं तो उसे अंतरंग-परिणाम होंगे, वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

(३) तथा अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप क्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्य-तप जैसा ही जानना; जैसी बाह्य-क्रिया है, उसीप्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इसलिये प्रायश्चित आदि बाह्य-साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।

परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो उसका नाम अन्तरंग तप जानना; और वहाँ तो निर्जरा ही है, वहाँ बन्ध नहीं होता; तथा उस शुद्धता का अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है, उनसे बन्ध है। इसप्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा दी गई है - ऐसा जानना और इसलिये उसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।

अधिक क्या कहें ? इतना समझ लेना कि - निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद निमित्त कि-निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य प्रकार के भेद निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; उन्हें व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना । इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिये उसे निर्जरा का - तप का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२३३, टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

प्रश्न :- क्रोधादि का त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है ?

उत्तर :- बन्धादि के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता, किन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है । जिसप्रकार कोई राजादि के भय से अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है । तो फिर किस प्रकार

त्यागी होता है ? - कि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं, किन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो तब स्वयं क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती और तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२२९, टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

(४) अब, आठवीं गाथा में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करेंगे उसे सुनो-कि जिसके प्रगट होने से आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है, वह स्वरूपाचरण चारित्र है ।।७।।

अब, '**मुनियों का तप, धर्म...**' मुनियों का तप, मुनियों का धर्म। दश प्रकार का है न ? उसका '**विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र**' इनकी व्याख्या शुरु करते हैं।

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा;
मुनि साथमें वा एक विचरैं चहैं नहिं भवसुख कदा।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब;
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब।।७।।

यह सकलचारित्र लिया। पहले देशचारित्र था न ? यह सकलचारित्र लिया। अकेला स्वरूपाचरण में विकल्प साधन नहीं।

अन्वयार्थ :- '(वे वीतरागी मुनि हमेशा) बारह प्रकार के तप करते हैं...' हमेशा अनशन, उनोदर रसपरित्याग, कायक्लेश, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, सज्झाय, ध्यान, व्युत्सर्ग-ऐसे हमेशा बारह प्रकार के तप करते हैं, तो भी वीतरागता वर्तती है।

'**दश प्रकार के धर्म को धारण करते हैं...**' उत्तम क्षमा, उत्तम निर्मानता आदि हमेशा धारण करते हैं। वीतराग मुनि तो गुण के समूह अकेले गुण के पोटले ! आहा..! समझ में

आया ? श्रावक की दशा से भी मुनि कि दशा तो गुण की गठरी, गुण की गाँठ। अकेला आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अतीन्द्रिय वीतरागता वर्तती है, अतीन्द्रिय आनन्द की वीतरागता वर्तती है। उस मुनिपने में दश प्रकार का धर्म धारण करते हैं। क्षमा, शान्ति, निर्लोभता आदि। समझ में आया ?

'तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का हमेशा सेवन करते हैं...' मुनि, सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द की अनुभव में प्रतीति होकर सम्यग्दर्शन का हमेशा सेवन करते हैं, निरन्तर-ऐसा कहते हैं। कोई समय सम्यग्दर्शनरहित नहीं होता। समझ में आया ? मुनि उन्हें कहते हैं कि जिन्हें एक समयमात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान (बिना का नहीं होता)। सम्यग्दर्शन अर्थात् अखण्ड मुख्य आनन्दस्वरूप ध्रुव के आश्रय से हुई सम्यक् प्रतीति। उसे इस ध्रुव का ध्येय कभी एक क्षण भई नहीं छूटता। समझ में आया ?

इसी तरह सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आत्मा का ज्ञान-आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का ज्ञान एक समय भी नहीं छूटता; और सम्यक्चारित्र (अर्थात्) स्वरूप में स्थिरता। मुनि को जो अरागी वीतरागी परिणति प्रगट हुई है, वह एक समय भी नहीं छूटती। आहा..हा...! समझ में आया ? नींद में भी थोड़ी जरा नींद होवे तो भी, उन्हें रत्नत्रय होता है; जागृत होवे तो भी होता है, चलते हो तो भी होता है। जंगल जाने की क्रिया (शौच क्रिया) में बैठे हो तो भी उन्हें रत्नत्रय निरन्तर (वर्तता है)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागी दशा वहाँ भी वर्तती है। आहा..हा...! समझ में आया ?

श्रावक को दो कषाय का नाश हुआ है और जितनी सम्यग्दर्शन आदि स्थिरता प्रगट हुई है, उतनी उसे भी सदा रहती है। उसे वह है। नींद में हो, भोग में हो, रोग में हो या व्यापार-धन्धे में बैठा दिखे तो भी श्रावक तो उसे कहते हैं, जिसे दो कषाय के अभाव की वीतरागता सदा ही वर्तती है। समझ में आया ? कहो, भाई !

लड़ाई में खड़ा हो तो सम्यग्दृष्टि को एक कषाय का अभाव और भ्रान्ति का नाश, स्वरूपआचरण की स्थिरता का अंश तो वहाँ सदा ही वर्तता है, लड़ाई में हो तो भी। समझ में आया ? उसे-श्रावक को समकिती कहते हैं। मुनि की दशा की तो बात क्या करनी अन्तिम, अलौकिक ! जिन्हें अल्पकाल में केवलज्ञान लेने की तैयारी है।

वे '**सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का (सदा) सेवन करते हैं..**' है न सदा ? हमेशा। देखो !'**तप तपै द्वादश, धरैं वृष दश, धर्म दश, रत्नत्रय सेवैं सदा...**' आहा..हा...! रत्नत्रय, श्रावक को अभी चारित्र-सकलचारित्र नहीं, अर्थात् थोड़ा है। चौथे गुणस्थान में वे देशव्रत के विकल्प नहीं है, उसे स्वरूपाचरण का अंश सदा है। समझ में आया ? इन मुनि को तो सम्यग्दर्शन-आत्मा के अनुभव की प्रतीति, आत्मा का ज्ञान, आत्मा में तीन कषाय के अभाव की वीतरागता सदा-निरन्तर-चौबीसों घण्टे होती है। समझ में आया ?

धर्मरूप परिणमे हैं न ? धर्म उसे कहते हैं न ? आत्मा धर्मरूप परिणम गया है। आता है न ? भाई ! नहीं ?'प्रवचनसार'-(में) शुभपरिणमित शुभ; अशुभ से परिणमित अशुभ; और शुद्ध से परिणमित शुद्ध; धर्म से परिणमित धर्मी। धर्मी परिणम गया है। उसे अब ऐसा कुछ करना (-ऐसा) नहीं। उतनी तीन कषाय के नाश की वीतरागता आनन्द की अन्दर परिणमित हो गयी है, वह आत्मा ही धर्मरूप हो गया है। वह आत्मा है, सदा के लिये सदा धर्मरूप परिणमन चालू है। आहा..हा...! समझ में आया ?

रत्नत्रय का सदा सेवन करते हैं। बाकी तो यहाँ तप और यह सब लिया है। फिर मुनि रहते किस प्रकार है ? कहते हैं। यह तो मुनि का तप और धर्म कहा। अब विहार (कहतै हैं)-'**(मुनि साथ में) मुनियो के संघ में अथवा अकेले विचरते हैं...**' दो-चार साधु साथ रहें अथवा अकेले भी (रहे)। आत्मध्यान की मस्तीवाले स्वतन्त्र आत्मा के आनन्द को अनुभवते हुए अकेले भी रहते हैं।'**किसी भी समय (भवसुख) संसार के सुखों को नहीं चाहते।**' समझ में आया ?'**चहैं नहीं भवसुख कदा।**' आत्मा के आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द की लहर में रहते हैं। वे कभी (सांसारिक) सुख की इच्छा (नहीं करते कि) ऐसा होवे तो ठीक, यह होवे ते ठीक, गर्म-गर्म ताल होवे तो ठीक या गर्म-गर्म भुजिया खाते हों या नहीं ?

मुमुक्षु :- भुजिये तो गर्म-गर्म ही खाये जाते हैं।

उत्तर :- मुनि को इच्छा नहीं होती। आहा..हा..! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के आनन्द का अनुभव वेदते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव-भोजन हमेशा करते हैं। मुनि तो अतीन्द्रिय का भोजन करते हैं। पान-सुधारस का-अमृता का पानी पीते हैं, उन्हें ऐसे सुख की इच्छा नहीं

होती। स्वर्ग की इन्द्राणी डिगाने आवे तो भी नहीं डिगते। समझ में आया ?

वे '**संसार के सुखों को नहीं चाहते। इस प्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र है...**' लो ! पहले देशविरत कहा था और उसके बाद यह सकल संयम चारित्र कहा। मुनि के पाँच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि।

मुमुक्षु :- महानता हुई..

उत्तर :- महानता हुई तो जाने। महानता-इसका अर्थ है कि ज्ञान किया; पूर्व का याद आता है, वह अलग बात है। ज्ञान तो केवली को नहीं ? ज्ञान तो तीन काल-तीन लोक का होता है। ज्ञान में जाने की ओ..हो..हो.. ! दुनिया। गतकाल में ऐसा जानते और मानते, वह तो ज्ञान किया। समझ में आया ? ज्ञान तो केवली तीन काल का करते हैं या नहीं ?

मुमुक्षु :- यहाँ विकल्प होता है ?

उत्तर :- विकल्प नहीं, ज्ञान होता है-ऐसा कहता हूँ। ज्ञान में पहले की बात ज्ञात हो कि ऐसा पहले था, वह जाना है। उसमें जानने में क्या आया ? समझ में आया ? संसार के ये जितने भोग हैं, वे केवली जानते हैं या नहीं ? केवली को राग आता है ? ऐसे उन्हें एक साथ है, जितनी समता प्रगटी एकसाथ है-समता के साथ ज्ञाता-दृष्टापना साथ ही है। पूर्व का याद आवे, वह तो ज्ञान हुआ, उससे दुःख हुआ-ऐसा है कुछ ? विकल्प भी है, विकल्प है तो याद (आया)-ऐसी भी कुछ नहीं। जानते हैं। गतकाल-भूतकाल जानते हैं। (यह) '**सकल संयम चारित्र है...**'

'**अब, स्वरूपाचरणचारित्र सुनो...**' लो ! उस स्वरूप में निर्विकल्प ध्यान में स्थिर हो जाए-उसकी बात की। सकलचारित्र में अट्ठाईस मूलगुण सहित की बात की। अब जहाँ विकल्प आदि साधन और अकेला स्वरूपाचरण (है, उसकी) बात करते हैं। स्वरूपाचरण तो इतना है, उसे भी विशेष स्वरूप आचरण स्थिरता से अब बात करते हैं।

'**स्वरूपाचरणचारित्र सुनो !**' देखा ! समझ में आया ? इस स्वरूपाचरण का अंश तो चौथे गुणस्थान से होता है। यह बात पहले हो गयी थी। उसमें था न ? 'जैनसिद्धांत प्रवेशिका'। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हो, उसे स्वरूपाचरणचारित्र (सहित) होने से अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है। इतना शुद्ध चैतन्य प्रभु दृष्टि में और स्थिरता के अंश में इतना वर्तता होता है। यहाँ

विशेष चारित्र की अपेक्षा विशेष है।

'जिस स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने पर (आपनी) अपने आत्मा की ज्ञानादिक सम्पत्ति...' खजाना.. ओ..हो..! स्वरूप में स्थिरता से (ज्ञानादिक सम्पत्ति प्रगट हो गयी)। कोई इसमें से ऐसा लेते हैं कि देखो ! यह तो सकलचारित्र कहने के बाद अकेला स्वरूपचारित्र सातवें से (होता है)। यहाँ बात तो उत्कृष्ट की ऐसे कहना चाहते हैं, बात तो यह कहना चाहते हैं। समझ में आया ? क्योंकि सकलचारित्र और अट्ठाईस मूलगुणसहित का तीन कषाय का अभाव (हुआ), उतना चारित्र है, परन्तु विकल्प है, अभी उससे रहित अब स्थिरता बताना चाहते हैं; परन्तु इससे स्वरूपाचरणचरण सातवें में ही होता है और नीचे नहीं होता-ऐसा नहीं है। यह तो उत्कृष्ट चारित्र की अपेक्षा का स्वरूपाचरणचारित्र (कहते हैं)। छठवें गुणस्थान में मुनि को तीन कषाय के नाश जितना तो चारित्र स्वरूप आनन्द वीतराग है, परन्तु अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प हैं, उसका अभाव करके स्थिर होते हैं-उसकी बात अब लेना चाहते हैं।

अपनी आत्मा में ध्यान जहाँ लीन हुआ (तो) कहते हैं (कि), अकेला स्वरूप का आचरण अकेला। **'आत्मा की ज्ञानादिक सम्पत्ति प्रगट होती है...'** अन्तर में अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द जो है, वह एकाकार ध्यान करने से प्रगट होते हैं। **'तथा परवस्तुओं की ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति मिट जाती है।'** लो ! विकल्प आदि सब मिट जाते हैं।

भावार्थ :- 'भावलिंगी मुनि का शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना, वह तप है...' यह तप की थोड़ी व्याख्या की। पहला 'तप' शब्द है न ? तप। पहला 'तप' शब्द है, देखो ! **'तप तपैं...'** मुनि ऐसा तप तपते हैं। **'हठ बिना बारह प्रकार के तप का शुभविकल्प होता है...'** अनशन, उनोदर आदि का विकल्प होता है। **'यह व्यवहारतप है।'** यह निश्चयतप तो आनन्द का तपना, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रगट होना, वह निश्चयतप है। बारह प्रकार के तप का विकल्प, वह व्यवहारतप पुण्यबन्ध का कारण है।

'वीतरागभावरूप उत्तम क्षमादि परिणाम, वह धर्म है।' दूसरी व्याख्या (की)। वीतरागभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित **'उत्तम क्षमादि परिणाम, वह धर्म है। भावलिंगी मुनि को उपरोक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है।'** अन्दर में। आहा..हा...! मुनि पंच

परमेश्वर अकेले धर्म होने ही नीकले। **'वे मुनियों के संघ के साथ अथवा अकेले विहार करते हैं। किसी भी समय संसार के सुख को नहीं चाहते हैं। इस प्रकार सकलचारित्र का स्वरूप कहा।'** अब, जरा 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की थोड़ी बात करते हैं।

'(२) अज्ञानी जीव, अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं...' अज्ञानी (ऐसा मानता है) - आहार-पानी छोड़ दिया, इसलिए अपने को तप हो गया।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वह भी तप नहीं है।

'किन्तु मात्र बाह्य तप करने से तो निर्जरा होती नहीं है।' ऐसा अनशन, उनोदर आदि का बाह्य से क्रियाकाण्ड (करने से) कुछ निर्जरा होती नहीं। **'शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है...'** देखो ! भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वभाव में, शुद्धस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता का शुद्ध आचरण करे, इस शुभविकल्परहित, पुण्य के विकल्परहित शुद्धस्वरूप को अन्तर तपे, वह शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है। **'इसलिए उपचार से तप को भी निर्जरा का कारण कहा है।'** वह निमित्त साथ में है इसलिए। बारह प्रकार का तप निमित्त है न, उसे कहा, बाकी वास्तव में तो शुद्धोपयोग, निर्जरा का कारण है। **'यदि बाह्य दु:ख सहन करना ही निर्जरा का कारण होवे तो पशु आदि भी भूख-प्यास सहन करते हैं।'** लो ! सहन करते हैं या नहीं ? तब कहते हैं कि...

'प्रश्न :- वे तो पराधीनता से सहन करते हैं...' हम तो यहाँ रोटियां मिलती है, और छोड़ देते हैं। **'परन्तु स्वाधीनरूप से धर्मबुद्धि से उपवास आदि तप करे, उसे तो निर्जरा होती है ?'**- इस प्रकार प्रश्नकार का प्रश्न है।

'उत्तर :- धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे...' यह 'पण्डित टोडरमलजी' की 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की व्याख्या है, हाँ ! **'वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ व शुद्धरूप जैसा परिणमें वैसा परिणमों।'** परिणाम पर बात है या बाहर की क्रिया पर (बात) है ? कहते हैं, उपवास करके बैठा और परिणाम अशुभ हो। परिणाम शुभ हो तो पुण्य बाँधे, अशुभ हो तो पाप बाँधे, शुद्धोपयोग होवे तो निर्जरा होती है। **'यदि उपवास के प्रमाण में निर्जरा होती हो, तब तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि ही ठहरे, परन्तु ऐसा तो होता नहीं, क्योंकि परिणाम दुष्ट**

होने पर उपवासादि करने पर भी निर्जरा होना कैसा सम्भव है ?' जिसके परिणाम खराब हैं और बाहर से मुँह से आहार-पानी पेट में नहीं पड़ा, इससे परिणाम से बन्ध होता है, उसे किसी क्रिया से बन्ध नहीं होता।

'यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि अशुभ-शुभ-शुद्धरूप उपयोग परिणमें, तद्नुसार बन्ध-निर्जरा है...' उसके मुँह से कहलवाया, भाई ! जैसे परिणाम करे, तद्नुसार बन्ध-निर्जरा (होते हैं)। शुभ-अशुभपरिणाम से बन्ध होता है और शुद्ध परिणाम से निर्जरा होती है। **'तो उपवासादि तप, निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ?'** तो उपवास और अनशन कारण नहीं रहा। **'वहाँ अशुभ और शुभपरिणाम तो बन्ध के कारण सिद्ध हुए तथा शुद्धपरिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।'** कहो, निर्जरा का कारण क्या हुआ इसमें ? शुद्ध श्रद्धा-ज्ञानसहित के शुद्धपरिणाम, वह निर्जरा का कारण है। बाहर से अनशन, उनोदर, रसपरित्याग (रस) छोड़े, परन्तु परिणाम का ठिकाना न हो तो क्या शुद्ध, वह निर्जरा का कारण है।

'प्रश्न :- यदि ऐसा है तो अनशनादि को तप संज्ञा किस प्रकार कही गयी ?'

'उत्तर :- उन्हें बाह्य कहा है...' वे तो बाह्यतप है। **'बाह्य का अर्थ यह है कि बाह्य में दूसरों का दिखायी दे कि यह तपस्वी है...'** महीने-महीने के उपवास करे और तपस्वी कहे, उसकी अपेक्षा एकबार स्वाध्याय, ध्यान में बैठे (वह) बहुत निर्जरा करे, उसे कोई तपस्वी कहते हैं ? कहो, समझ में आया ? स्वाध्याय, तप और ध्यान भी तप है, परन्तु लोग बाहर से मानते हैं, **'परन्तु स्वयं तो जैसा अन्तरंग परिणाम होगा, वैसा फल प्राप्त करेगा।'**

'(३) तथा अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूपक्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, उसे तो बाह्यतप जैसा ही जानना..' 'टोडरमलजी' के 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का यह स्पष्टीकरण (है)। **'जैसी अनशनादि बाह्य क्रिया है, वैसी यह भी बाह्य क्रिया है...'** वह भी बाह्य क्रिया है। कौन-सी ? प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, यह सब विकल्प है। **'इसलिए प्रायश्चित आदि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।'** प्रायश्चित आदि बाह्य (साधन) अन्तरंग तप नहीं है।

'परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम

अन्तरंग तप जानना...' अन्तरंग में आत्मा की दृष्टिपूर्वक, सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्ध चैतन्य के भान में जितने शुद्धता के वीतरागी परिणाम हो, उसे निर्जरा का कारण जानना, उसे अन्तरंग तप जानना। **'और वहाँ तो निर्जरा ही है...'** लो ! यह अन्तरंग शुद्धपरिणाम आत्मा के हो, वह निर्जरा (है)। **'बन्ध नहीं होता तथा उस शुद्धता का अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है; तथा जितना शुभभाव है, उससे बन्ध है।'** थोड़ा शुभभाव-विकल्प साथ में होता है न ? वह शुभ, पुण्य का बन्ध है।

'इस प्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा दी गयी है-ऐसा जानना और इसलिए उसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।' लो ! उपचार तप कहो, व्यवहार तप कहो, आरोपित कहो। यथार्थ तो आत्मा शुद्ध ध्यान और दर्शन, ज्ञान, चारित्र से निर्मल वीतरागी परिणाम हो, वह निर्जरा है।

'अधिक क्या कहें ?' 'टोडरमलजी' कहते हैं। **'इतना ही समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है।'** जितने अंश में अन्तर में सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा की निर्विकल्प दृष्टिपूर्वक, आत्मा की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, शुद्ध चैतन्य की दृष्टिपूर्वक जितनी वीतरागपर्याय प्रगट हो, उतना धर्म भगवान ने कहा है, बाकी परिणाम शुभ हो, वह पुण्यबन्ध का कारण है, वह धर्म नहीं है, निश्चयधर्म नहीं। इस निश्चयधर्म में शुभ को व्यवहारधर्म कहा जाता है।

'तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं...' देखो ! अनेक प्रकार के भेद-बारह प्रकार के (तप) आदि अनेक प्रकार, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से भेद, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; वे वास्तविक धर्म है नहीं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, ध्यान और स्वाध्याय, पर का विनय करे तो वह सब विकल्प है। वह तो निमित्त से बात की है। अन्दर में सम्यग्दर्शनपूर्वक जितनी वीतरागता प्रगट हो, उतनी को भगवान तप और धर्म कहते हैं।

'उसे व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।' देखो ! भेद निमित्त, उपचार और व्यवहार-इसमें चारों बोल आ गये। जितना कथन भेद से है, निमित्त से है-उस सब को उपचार कहा जाता है और व्यवहार कहा जाता है।

'**इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता...**' देखो ! भेद, 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' - निर्जरा की व्याख्या है न वह ? '**इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिए उसे निर्जरा का-तप का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।**' 'टोडरमलजी' (ने) 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' शास्त्रों का दोहन करके कहा है। अब कितने को ही यह 'टोडरमलजी' का (कथन) ठीक नहीं पड़ता। 'टोडरमलजी' ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में हजारों शास्त्रों का सार-दोहन करके लिखा है। महाप्रज्ञावाले, बहुत क्षयोपशम, बहुत क्षयोपशम ! समझ में आया ? यह बात करे तो (कहते हैं कि) नहीं, यह नहीं, नहीं, 'टोडरमलजी' का नहीं। 'टोडरमलजी' का नहीं अर्थात् भगवान का नहीं-ऐसा कह न। इन्होंने (तो) यह भगवान के अनुसार कहा है, इन्होंने घर का कुछ नहीं कहा है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पृष्ठ २३३ से २३६ में यह कहा गया है।

'**प्रश्न :- क्रोधादि का त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है ?**' समझ में आया ? क्रोध का त्याग, मान का त्याग, माया का त्याग, लोभ का त्याग और उत्तम क्षमा.. अस्ति नास्ति।

'**उत्तर :- बन्धादि के भय से...**' देखो ! बन्ध के भय से क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे। बन्ध के भय से, हाँ ! अरे..! बन्ध होगा। उसे कहीं क्षमा नहीं कहते, उसे धर्म नहीं कहा जाता। बन्धादि के भय से-राजा का भय, डर के मारे आदि, परिवार का भय। ऐसा करने से लोग मुझे क्रोधी कहेंगे-इत्यादि '**भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से...**' यह भय हुआ-द्वेष हुआ और पहला राग हुआ। '**स्वर्ग और मोक्ष की इच्छा से (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता...**' समझ में आया ?

'**परन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है।**' अभिप्राय में कहाँ गया ? यह लोग मुझे ऐसा करेंगे, इसलिए अपने का क्रोध नहीं हो। लोग ऐसा कहेंगे मान नहीं दिखता। समझ में आया ? नहीं तो द्वेष होगा या अपने लाभ जाएगा। सेठ के साथ क्रोध करुँगा तो लाभ जाएगा-ऐसी इच्छा से और बन्ध के भय से क्रोध-मान नहीं करे, परन्तु क्रोध-मान करने का, श्रद्धा का अभिप्राय तो गया नहीं। '**जैसे कोई राजादि के भय से...**' देखो ! भय से आया न ? बन्धादि के भय से '**अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता...**' राजा का भय, परिवार का भय आदि और बड़प्पन-अपनी प्रतिष्ठा के लिये करे-ऐसा बड़ा कहलाता हूँ। ऐसा करुँगा तो बड़प्पन जाता रहेगा... बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से मेरी प्रतिष्ठा अच्छी है, वह

भ्रष्ट (नष्ट) हो जायेगी, इसलिए अपने को यह सेवन (नहीं), परस्त्री सेवन नहीं।

'**प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता...**' त्यागी कहाँ कहे ? अन्दर में अभिप्राय में सब पड़ा है। समझ में आया ? राजा के, सेठे के, परिवार के डर से करे-परस्त्री सेवन न करे; प्रतिष्ठा के लिये (यह) करे, इज्जत के लिए सेवन (न करे) इससे उसे '**त्यागी नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार यह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है।**' लो ! दुनिया के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ न करे और क्षमादि दिखे तो भी वह वास्तव में क्रोधादि का त्यागी नहीं है। आहा.. !

'**तो फिर किस प्रकार त्यागी होता है ? कि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर...**' देखो !'**क्रोधादि होते हैं...**' यह पदार्थ इष्ट है, यह पदार्थ अनिष्ट है। (-ऐसा) भासित होने पर क्रोध, मान होता है; अर्थात् इष्ट देखकर राग होता है, अनिष्ट देखकर द्वेष होता है। इस पदार्थ में मुझे द्वेष हुआ और इस पदार्थ से मुझे राग हुआ-यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया ?'**पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं। परन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास में...**' जगत में कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं, मैं ही पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पता और मानता था। कोई चीज इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं।

विच्छु अनिष्ट है और चन्दन अनुकूल है-ऐसा पदार्थ में नहीं है। पदार्थ में छाप लगी है ? रोग अनिष्ट है, निरोग इष्ट है-ऐसा है ? उसमें छाप लगी है ? .. पता है न ? .. हाथ निकाल दे। यहाँ से ऐसा कर डाले। समझ में आया ? .. हाथ पहले से ही निकाल दिया हो, कपड़ा वह पहना हाथ ... इसलिए कोई पकड़ने आवे तो पता नहीं पड़े कि यह चोर था। बाहर के कारण यह सब करता है। उसे इष्ट नहीं, वह रोग उसे उस समय अच्छा लगता है। वहाँ से दो कदम फिर और पहला सब करके वापस बदल डाले, पुलिस पकड़ने आवे तो, वह कहीं गया नहीं। कहाँ गया है ? क्योंकि दिखाव गरीब, भिखारी दिखे। मणिरत्न चोर गया हो और यहाँ आँख में डाल दिया। वह पहले से कटाकर अन्दर रखा हो। ऐसा चढ़ा दिया हो। अब पहले ऐसा होवे, उसमें पकड़ना किसे ? किसे ? यह हुआ है। 'मुम्बई' में यह सब (किस्से) हुए हैं।

'**तत्त्वज्ञान के अभ्यास से...**' मैं तो आत्मा ज्ञान हूँ। मेरी शान्ति मेरे पास है। जगत का

अनुकूल-प्रतिकूल कोई पदार्थ मुझे बाधक या अनुकूल है ही नहीं-ऐसी तत्त्वज्ञान की दृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि होवे तब कोई '**इष्ट-अनिष्ट भासित न हो...**' फिर उसे कोई चीज इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होती। '**तब स्वयं क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती...**' सहज क्रोध नहीं होता, मान नहीं होता, कपट नहीं होता, लोभ नहीं होता, '**तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं।**' धर्म होता है। यह तप और क्षमा की व्याख्या की। ऊपर था न ? '**तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश...**' ऐसा। समझ में आया ? लो ! यहाँ तक सकलचारित्र का वर्णन हुआ। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पृष्ठ-२३२ में से यह कथन है, हाँ ! यह यहाँ का कथन नहीं है। 'टोडरमलजी' का है। अब, यह सकलचारित्र हुआ। सम्यग्दर्शनसहित, अन्तर अनुभवसहित, अट्ठआईस मूलगुण आदि का वर्णन किया। तीन कषाय का अभाव हुआ, अब अन्दर स्थिरता की-सातवें गुणस्थान से स्वरूपाचरण के स्थिरता जमे। स्वरूपाचरण चारित्र की, चारित्रसहित की स्थिरता।

'**(४) अब, आठवीं गाथा में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करेंगे, उसे सुनो...**' है न अन्दर ? '**जिस के प्रगट होने से अपने...**' यह प्रगट होने से-स्वरूप में स्थिरता (होने से)... तीन कषाय का अभाव तो था। अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प था। अब यह छोड़कर स्थिरता होने से '**अपने आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है, वह स्वरूपाचरणचारित्र है।**' यह व्याख्या अपने ८-९-१० की हो गयी है। समझ में आया ? ११ से कल चलेगा। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❁

ज्ञानी उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली-ज्ञायकको पकड़े व उसकी पर्यायमें वीतरागता प्रगट होने पर भी पर्यायमें रूके नहीं; उसकी दृष्टि तो त्रिकाली-ध्रुव पर ही टिकी है । धर्मदशा प्रकट हो - निर्मलपर्याय प्रकट हो - पर ज्ञानी इन पर्यायोंमें नहीं रूकता । (परमागमसार-४५४)